उमास्वाति का काल

उमास्वाति के काल निर्णय के सन्दर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रन्थों में हमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धान्त का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गुणस्थान सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणायें अपने स्वरूप के निर्धारण की दिशा में गतिशील थीं। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र की जो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ-भाष्य को और दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ-भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है। तत्त्वार्थसूत्र के परवर्ती टीकाकारों में सर्वप्रथम अकलंक अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक के चौथे अध्याय के अन्त में सप्तभंगी का तथा नवें अध्याय के प्रारम्भ में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में विशेष रूप से श्वेताम्बर आगमों में समवायांग में 'जीवठाण' के नाम से, यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम में 'जीवसमास' के नाम से और दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में 'गुणठाण' के नाम से इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रन्थ लगभग पांचवीं शती के आसपास के हैं। इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व की है। यह सही है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया, फिर भी यह निश्चित है कि पांचवीं शताब्दी के पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पांचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।

मूलसंघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई. सन् ३७० एवं ४२१ का है। तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परम्परा से, कहीं श्वेताम्बर परम्परा से और कहीं यापनीय परम्परा से संगति होना और कहीं विसंगति होना यही सूचित करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि वह संघभेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय संघ स्पष्ट रूप से विभाजित होकर अस्तित्व में नहीं आये थे। श्री कापड़िया जी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं जो न तो सर्वथा वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा से और न ही दिगम्बर परम्परा से मेल खाते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि 185AD स्वीकार की गई है। प्रो. विंटरनित्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं हुए थे। उनका ग्रन्थ तत्त्वार्थ स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है, वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् ही बोटिकों की उत्पत्ति का अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परम्पराओं के विभाजन का उल्लेख है। साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का विवाद तो आर्यकृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि. सं. ६०९ में हुआ था, किन्तु परम्परा भेद उनके शिष्य कौडिण्य या कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परम्परा भेद वीर नि. सं. ६०९ के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया वीर निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व माना जाता है किन्तु इसमें ६० वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचन्द्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान भी कर रहे हैं। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है उसमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् ४१० वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व हुआ है तो यह मानना होगा कि संघभेद ६०९-४१० अर्थात् विक्रम संवत् १९९ में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिण्य और कोट्टवीर का काल ६० वर्ष जोड़ें तो यह संघभेद लगभग विक्रम संवत् २५९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का स्पष्ट विकास तो इसके भी लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा। क्योंकि, पांचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तीसरी-चौथी शताब्दी के समवायांग जैसे श्वेताम्बर मान्य आगमों और यापनीय परम्परा के कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम जैसे ग्रन्थों से तत्त्वार्थसूत्र की कुछ निकटता और विरोध यही सिद्ध करता है कि उसकी रचना इनके पूर्व हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्त्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्चनागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से प्रारम्भ हुई। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वेताम्बर पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवास काल वीर निर्वाण सं. ५८४ माना जाता है। अतः आर्य शान्तिश्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण ४७० से ५५० के बीच मानना होगा। फलतः आर्य शान्तिश्रेणिक से उच्चनागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है। उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक् सं. ५ अर्थात् विक्रम संवत् १४० का है, अतः उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी या उसके पश्चात् ही होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागर शाखा का बताया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं। जिनपर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख भी है। यदि इनपर अंकित सम्वत् शक् संवत् हो तो यह काल शक् संवत् ५ से ८७ के बीच आता है, इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई. सन् ७८ से १७६ के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल सं. १३५ से २३३ के बीच आता है अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शान्तिश्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनन्दी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल के गणि उग्गहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिककुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी एक शाखा उच्चानागरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्री शाखा का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि उच्चनागरी और वज्री दोनों ही शाखाएँ कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवतनासीवद' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्तना सम्भवतः समाधि स्थल का सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, फिर भी सम्भावना तो व्यक्त की ही जा सकती है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव जिनके बीच वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद वीर नि. सं. ६०९ में हुआ था, के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के सम्बन्ध में जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उनके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु 'निवतनासीवद' ऐसा उल्लेख है जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निर्माण कार्य किया गया था। आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला अन्य लेख स्पष्ट है और उसमें शक संवत् ९५ निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोटीयगण, स्थानीयकुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि.सं. २३० के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि. सं. ६०९ तदनुसार ६०९- ४१० अर्थात् वि.सं. १९९ मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हो जाती है क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के ३०-४० वर्ष बाद ही कभी बनी होगी। उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण से ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है। सम्भावना यह भी हो सकती है कि ये दोनों गुरुभाई हों और उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों या आर्य शिव आर्य कृष्ण के गुरु हों। यद्यपि विशेषावश्यकभाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण यह क्रम उलट दिया गया है।

आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध मानना होगा, किन्तु तीसरी शती के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्ध तक के जो भी जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध से विवाद प्रारम्भ हो गया था, किन्तु श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्पराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे। वि. सं. की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध अर्थात् ई.सन् ४७५ से ४९० के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बर) और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं। प्रो. मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर मैं इसे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शती के पूर्वार्द्ध के बीच मानना चाहूँगा। चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी मानें, इतना निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं। यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पूसत्र स्थविरावली में भी है और जो उत्तर भारत में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद के जनक थे, से करते हैं तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है। आर्य शिव वीर निर्वाण सं. ६०९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। इस आधार पर उमास्वाति तीसरी शती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के उत्तरार्ध और चौथी शती के पूर्वार्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है। यह भी संभव है कि वे इस परम्परा भेद में कौडिण्य और कोट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हों। फलत: उनकी विचारधारा में यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही परम्परा की मान्यताओं की उपस्थिति देखी जाती है। वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के सन्दर्भ में यापनीयों के निकट रहे हैं ।

इन समस्त चर्चाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का काल विक्रम संवत् की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य का है और इस काल तक वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था। स्पष्ट सम्प्रदाय भेद, सैद्धान्तिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवीं शताब्दी में या उसके बाद ही अस्तित्व में आये हैं। उमास्वाति निश्चित ही सम्प्रदाय भेद और साम्प्रदायिक मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ स्थिर हो रही थीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org